शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

सितम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ५

मोक्ष की खान

आत्मा के ध्रुवस्वभाव से च्युत होकर जो बाह्योन्मुखता होती है, वह संसार की खान है और आत्मा का ध्रुवस्वभाव, वह मोक्ष की खान है; इसलिए हे जीव! तू बाह्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्नता को जानकर अपने चिदानंद ध्रुवस्वभाव में एकता कर, ध्रुवस्वभाव की खान में गहराई तक उतरकर अपना मोक्षरत्न निकाल!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[१८५]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है, पोस्टेजादि अलग (पृ०सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें. देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

★

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

सितम्बर : १९६० ☆ वर्ष सोलहवाँ, भाद्रपद, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ५

कारण शुद्ध पर्याय

[१०]

(नियमसार गाथा-१४)

अंक १८४ से आगे

प्रवचन में नियमसार का भावभीजे प्रारम्भ करते हुए गुरुदेव ने कहा था कि—अहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस शास्त्र की रचना 'निजभावना' के हेतु करते हैं.... इसलिये श्रोता को भी निजभावना के हेतु इस शास्त्र का श्रवण करना योग्य है। इस शास्त्र के वक्ता और श्रोता दोनों का तात्पर्य 'निजभावना' करने का है। हे श्रोताओं! इस शास्त्र की प्रत्येक गाथा में दर्शाये हुए शुद्ध निजतत्त्व को जानकर बारम्बार उसकी भावना करना... ऐसी निजात्म भावना से अवश्य मोक्षमार्ग तथा उसके फल की प्राप्ति होगी। वास्तव में आचार्यदेव ने इस नियमसार द्वारा आत्मार्थी जीवों को शुद्ध रत्नमयरूपी 'नियमसार' की भेंट दी है।

आचार्य भगवान अन्त में कहते हैं कि यह नियमसार शास्त्र मैंने निजभावना के हेतु रचा है। परमस्वभावी ऐसे शुद्ध निज आत्मतत्त्व की अनेकानेक प्रकार से महिमा करके आचार्यदेव ने इस शास्त्र में उसकी भावना की धुन मचायी है। शुद्ध आत्मा की भावना का जैसा जोरदार कथन इस शास्त्र में है, वैसा ही अंतर परिणमन जिनके आत्मा में वर्त रहा है—ऐसे वीतरागी सन्तों का यह कथन है।

शास्त्र का तात्पर्य 'निजभावना' है; इसलिये छह द्रव्यों का अथवा विभाव पर्यायों का कथन आये, वहाँ भी उसे जानकर भावना तो निजतत्त्व की ही करना है। पर से और विभावों से भिन्न ऐसे निज तत्त्व को ही अपनी पर्यायों के कारणरूप से अर्थात् कारणपरमात्मारूप से भाना चाहिये।

उसकी भावना से मोक्षमार्गरूप कार्य हो जाता है। तत्सम्बन्धी विस्तृत विवेचन पहले आ चुका है।

जीव उपयोगस्वरूप है। उस उपयोग की पर्यायों के प्रकारों का वर्णन करके आचार्यदेव जीव का स्वरूप बतलाते हैं। ज्ञान-उपयोग के प्रकारों का तथा दर्शन-उपयोग की स्वभावपर्यायों का वर्णन हो चुका है, अब १४वीं गाथा में उसकी विभावपर्यायें बतलाते हैं। इसप्रकार 'उपयोग' के समस्त प्रकारों का वर्णन पूरा करके फिर पर्याय के भेद कहेंगे।

[गाथा-१४]

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्त्रोपि भणिता विभावदृष्टय इति।
पर्य्यायो द्विविकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः ॥१४॥

केवलदर्शन तो स्वभावपर्याय है; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन—यह तीनों विभावदर्शन हैं। पर्यायें दो प्रकार की होती हैं—एक निरपेक्ष और दूसरी स्व-पर की अपेक्षावाली।

१०वीं से १३वीं गाथा तक जो उपयोग के प्रकारों का वर्णन किया, वे भी पर्यायें ही थीं; उनमें जो स्वभाव उपयोग थे, वह तो निरपेक्षपर्याय थी और मतिज्ञानादि जो विभाव उपयोग थे, वह स्व-परअपेक्षित पर्याय थी। परन्तु उसमें तो ज्ञान, दर्शन और श्रद्धा की पर्यायों की ही बात थी। अब सम्पूर्ण द्रव्य की स्वभावपर्याय और विभावपर्याय बतलाने के लिये इस गाथा से उसकी भनक प्रारम्भ की है। पन्द्रहवीं गाथा में टीकाकार 'कारणशुद्धपर्याय' को स्पष्ट करेंगे।

दर्शन उपयोग तो सामान्य प्रतिभासरूप है; विभावज्ञान की भाँति विभावदर्शन में 'सम्यक्' और 'मिथ्या' ऐसे दो प्रकार नहीं हैं। विभावज्ञान के तो सात प्रकार थे, जब कि विभावदर्शन मे तो तीन ही प्रकार हैं—चक्षु, अचक्षु और अवधि। चक्षु इन्द्रिय के विषय को जानने से पूर्व चक्षुदर्शन होता है; चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के या मन के विषय को जानने से पूर्व अचक्षुदर्शन होता है। अवधिज्ञान के उपयोग से पूर्व अवधिदर्शन-उपयोग होता है; परन्तु मनःपर्यय से पूर्व मनःपर्यय नाम का कोई दर्शन-उपयोग नहीं होता। इसप्रकार विभावदर्शन-उपयोग के तीन प्रकार हैं। स्वभावदर्शन -उपयोग के कारण स्वभाव और कार्यस्वभाव ऐसे दो प्रकारों का वर्णन पहले हो चुका है।

इसप्रकार जीव के लक्षणभूत ज्ञान और दर्शन-उपयोग के समस्त प्रकारों का वर्णन किया। अब, 'पर्याय' की व्याख्या तथा उसके दो प्रकार बतलाकर फिर पन्द्रहवीं गाथा में जीवद्रव्य की पर्यायों का अद्भुत वर्णन करेंगे। (अभी तक 'उपयोगगुण' की कारण और कार्य पर्यायों का वर्णन था; अब जीवद्रव्य की पर्यायों का वर्णन आयेगा।)

पर्याय का अर्थ क्या? कि—'परि समन्तात् भेदमेति गच्छतीति पर्य्याय' अर्थात् जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो, वह पर्याय है। पर्याय के दो प्रकार हैं—एक स्वभावपर्याय और दूसरी विभावरूप अशुद्धपर्याय।

उसमें, स्वभावपर्याय छहों द्रव्यों को होती है; वह अर्थपर्यायरूप है, वाणी और मन से अगोचर है, अति सूक्ष्म है, आगमप्रमाण से स्वीकार करनेयोग्य है तथा छह प्रकार की वृद्धि-हानि सहित है। यहाँ जीव का अधिकार होने से जीव के गुण-पर्यायों का वर्णन मुख्य है, इसलिये छह द्रव्यों के गुण-पर्यायों का विस्तार यहाँ नहीं किया। जीव के अतिरिक्त अन्य पाँच अजीवद्रव्यों के गुण-पर्यायों का वर्णन अजीव-अधिकार में किया है।

नर, नारक, मनुष्य या देहरूप व्यंजनपर्यायें तो जीव की अशुद्धपर्यायें हैं। यद्यपि मतिज्ञानादि अर्थपर्यायें भी जीव की अशुद्ध-विभावपर्यायें हैं, परन्तु यहाँ उन अर्थपर्यायों को 'अशुद्धपर्यायें' न कहकर 'अशुद्धगुण' या 'विभावगुण' कहा है, 'अशुद्धपर्यायों' में तो व्यंजन पर्यायों को ही लिया है;—ऐसी इस शास्त्र की शैली है।

जीव में विभावपर्यायें होने पर भी उन्हें एक ओर रखकर (अर्थात् अभूतार्थ करके) भावना तो शुद्ध निजतत्त्व की ही करना है। इसलिये टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि परभाव होने पर भी... विभावपर्यायें होने पर भी... अशुद्धता होने पर भी... उन सबसे रहित ऐसे शुद्ध जीवतत्त्व को ही मैं सदा भाता हूँ, क्योंकि उसी की भावना से सकल अर्थ की (मोक्ष की) सिद्धि होती है। पर्याय में अनेक प्रकार के विभाव होने पर भी उन सबसे जो रहित है, ऐसे शुद्ध निजतत्त्व को-अपने हृदय में विराजमान कारणपरमात्मा को—मैं भजता हूँ। यहाँ धर्मात्मा को संबोधकर मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य शार्दूल! अपने हृदय में तू जिस कारणपरमात्मा को भज रहा है, उसी को उग्ररूप से भज। जिसके भजन से सम्यग्दर्शन आदि 'कार्य' हुआ, उसी 'कारण' में लीन होकर उसी को तू भज! —हम भी उसी को भजते हैं... और तू भी शीघ्ररूप से उसी को भज... उसके भजन से मुक्ति होगी।

भजन कहो या भावना; यह निजतत्त्व की ही भावना करने योग्य है। अहा, देखो तो यह भावना! ऐसी आत्मभावना भाने से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है।

❀ ❀ ❀

देखो, संसारी जीवों को पर्याय में पुण्य-पापादि विकार है, मतिज्ञानादि अपूर्ण दशा है और मनुष्यत्वादि अशुद्ध आकृति (विभावव्यंजनपर्याय) है।—यह तीनों प्रकार के परभाव हैं, और

उनके समक्ष परम शुद्धस्वभावी ऐसा 'कारण आत्मा' भी विराजमान है—तो अब मुमुक्षु ऐसे उत्तम पुरुषों को क्या करना चाहिये ?—सो कहते हैं:—पर्याय में परभाव होने पर भी, उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में उनकी भावना नहीं है; उत्तम पुरुषों के हृदय में अर्थात् साधक धर्मात्माओं की दृष्टि में तो सदा शुद्ध ऐसा भगवान कारणरूप शुद्ध आत्मा ही शोभायमान है। विभाव पर ज्ञानी की दृष्टि नहीं है; कारणस्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है; उसकी निर्मलपर्याय अंतर्मुख होकर कारणस्वभाव में प्रविष्ट हो गई है, इसलिये उस धर्मात्मा के हृदय में शुद्ध कार्यपरिणति शुद्ध कारणपरमात्मा के साथ निजानन्द की केलि करती है।

देखो, यह उत्तम पुरुषों का हृदय! जिसके हृदय में विभाव की भावना है, जिसकी परिणति विभाव के साथ केलि करती है, वह उत्तम पुरुष नहीं है। संसार में भले ही वह चाहे जैसा महान माना जाता हो किन्तु धर्म में वह उत्तम नहीं है। उत्तम धर्मात्मा के हृदय में तो कारणपरमात्मा ही शोभायमान है, उसके हृदय में विभावों का स्थान नहीं है, विभावों की भावना नहीं है।

अज्ञानी को भी 'कारणशुद्ध आत्मा' है तो अवश्य, किन्तु उसे उसका लक्ष नहीं है, उसकी परिणति अंतर्मुख होकर उस कारण के साथ केलि नहीं करती, इसलिये उसे उस शुद्ध कारण के अनुसार कार्य नहीं होता किन्तु पर का अनुसरण करके विकारी कार्य होता है। ज्ञानी को ही उसका लक्ष है, इसलिये कहा है कि उत्तम पुरुषों के हृदय कमल में कारण आत्मा शोभा देता है। वास्तव में कारण आत्मा को भजनेवाले धर्मात्मा ही जगत में उत्तम पुरुष हैं। वे अपनी परिणति अंतरोन्मुख करके कारणस्वभाव का अनुशरण करते हुए सम्यग्दर्शनादि उत्तम कार्यरूप परिणमित होते हैं।

मुनिराज कहते हैं कि अपने सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि के लिये हम इस कारणपरमात्मा को ही सदा भजते हैं... और, हे भव्य शार्दूल! तू भी उसी को भज। हे भव्यरूपी शार्दूल सिंह! तेरा पराक्रम तो देख! तू अपने पराक्रम को सँभाल! अंतर में कारणपरमात्मा की भावना करने में ही तेरा परम पराक्रम है... विभावों की भावना में वीर्य को रोक देना, यह तो दीनता है। जिस प्रकार वन में वास करनेवाला सिंह निर्भयरूप से अपनी क्रीड़ा में मस्त रहता है, उसी प्रकार हे भव्योत्तम शार्दूल! तू जगत से उदासीन निर्भयरूप से अपने कारणपरमात्मा की भावना में तत्पर रह। लड़ाई में हजारों योद्धाओं को भले ही जीत ले, किन्तु यदि स्वभाव की भावना द्वारा विभावों को नहीं जीता... और स्वयं विभावों के अधिकार में हो गया... तो उसे पराक्रमी नहीं कहते... स्वभाव के अवलम्बन में रहकर समस्त विभावों को जीत लेता है, वही सच्चा पराक्रमी वीर है, इसलिये हे पुरुषार्थी भव्य!

अंतर्मुख होकर अपने कारणपरमात्मा को ही तू भज... वह तुझसे भिन्न नहीं है... वह तू ही है... इसलिये उसी को तू उग्ररूप से भज... उसके भजन से ही तुझे मोक्ष के पंथ की तथा मोक्ष की सिद्धि होगी ॥१४॥

अब पन्द्रहवीं गाथा

जिज्ञासु जिसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, वह गाथा प्रारम्भ होती है:—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा॥१५॥

'कारणशुद्धपर्याय' के वर्णन की यह मुख्य गाथा है। आचार्यदेव ने इस गाथा में जीव की विभाव और स्वभावपर्यायों का वर्णन किया है; उनमें से स्वभावपर्याय के विवेचन में टीकाकार ने 'कारणशुद्धपर्याय' का अलौकिक वर्णन कियाहै।

आत्मा की पर्यायें दो प्रकार की हैं:—(१) स्वभावरूप, और (२) विभावरूप। नर-नारक-देव या तिर्यंचरूप अवस्था, वह तो कर्म की उपाधिवाली विभावपर्यायें हैं; और स्वभाव-पर्यायें कर्म की उपाधि से रहित हैं।

मनुष्यादि विभावपर्यायों को तो असाधारणरूप से लोग जानते हैं, परन्तु स्वभावपर्यायों को नहीं जानते। यहाँ पहले स्वभावपर्याय का वर्णन करते हैं।

स्वभावपर्याय दो प्रकार से है:—

(१) कारणशुद्धपर्याय।

(२) कार्यशुद्धपर्याय।

जिसप्रकार 'उपयोग' की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए 'कारण' और 'कार्य' का अद्भुत वर्णन किया था, उसी प्रकार अब 'आत्मद्रव्य' की स्वभावपर्याय का वर्णन करते हुए 'कारण' और 'कार्य' का अद्भुत वर्णन करते हैं।

कैसी है कारणशुद्धपर्याय ?—कि जो स्वाभाविक अनंतचतुष्टय के साथ सदैव रहती-और जो पूजित हैं, ऐसी पंचमभावपरिणति, वह कारणशुद्धपर्याय है।

इस **'कारणशुद्धपर्याय'** का शेष वर्णन आगामी अंक में प्रकाशित होने के बाद यह लेखमाला समाप्त होगी।

परम शांतिदायिनी
अध्यात्म-भावना

भगवान श्री पूज्यपाद स्वामी रचित 'समाधिशतक' पर
परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के
अध्यात्म भरपूर वैराग्य प्रेरक
प्रवचनों का सार

[अंक १८३ से आगे]

३८ वीं गाथा में कहा है कि जिसका चित्त, चैतन्य में स्थिर नहीं है, उसी को मान-अपमान के विकल्प सताते हैं, किन्तु जिसका चित्त, चैतन्य में स्थिर है, उसे मान-अपमान के विकल्प नहीं आते। अब, उन मान-अपमान के विकल्पों को किस प्रकार दूर करना चाहिए, यह कहते हैं—

यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः।
तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्॥३९॥

मान-अपमान सम्बन्धी राग-द्वेष होने के प्रसङ्ग पर, उसी क्षण चित्त को अन्तरोन्मुख करके, स्वस्थ आत्मा—शुद्ध आत्मा की भावना करना चाहिए। शुद्ध आत्मा की भावना से क्षणमात्र में राग-द्वेष शान्त हो जाते हैं।

प्रथम तो रागादि तथा पर से रहित, शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना चाहिए, तत्पश्चात् विशेष समाधि की यह बात है। शुद्ध आत्मा की भावना के अतिरिक्त राग-द्वेष टालने तथा समाधि प्रगट करने का अन्य कोई उपाय नहीं है... अन्तर्मुख होकर चैतन्य का स्पर्श करते ही रागादि अलोप हो जाते हैं... और उपशान्तरस की धारा प्रवाहित होती है, इसी का नाम वीतरागी समाधि है।

राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ की उत्पत्ति का मूलकारण अज्ञान है। जहाँ मूल में अज्ञान पड़ा है, वहाँ राग-द्वेषादि विभावों का वृक्ष फले बिना नहीं रहेगा। भेदविज्ञान द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर, आत्मा की भावना करना ही राग-द्वेषादि विभावों के नाश का उपाय है।

सम्यक्त्वी को राग-द्वेष के समय भी उससे भिन्न चैतन्य का भेदज्ञान तो साथ में वर्त ही रहा

है। उस भेदज्ञान के उपरान्त ज्ञानी, अस्थिरता सम्बन्धी राग-द्वेष को टालने के लिये चैतन्यस्वभाव का चिन्तन करता है।

अरे! प्रथम अन्तर में आत्मा की रुचि जागृत होना चाहिए कि मेरे आत्मा को शान्ति कैसे हो! उसे कौन शरणभूत है!! सन्त कहते हैं कि यह शरीर या राग कोई तुझे शरण नहीं है। प्रभो! अन्तर में एक समय में ज्ञानानन्द से परिपूर्ण तेरा आत्मा ही तुझे शरणभूत है.... उसे पहिचान!

दो सगे भाई नरक में एकसाथ पड़े हों; उनमें एक सम्यक्त्वी हो और दूसरा मिथ्यादृष्टि! वहाँ सम्यग्दृष्टि को तो नरक की घोर प्रतिकूलता में भी चैतन्य के आनन्द का अंशत: वेदन वर्तता है और मिथ्यादृष्टि, मात्र संयोगों की ओर देखकर दु:खों से व्याकुल होकर तड़पता है। वह अपने भाई से पूछता है कि 'हे भाई! है कोई शरणभूत! इस घोर दु:ख में है कोई सहायक! इस वेदना से कोई छुड़ा सकता है!!' तब सम्यक्त्वी भाई कहता है कि अरे बन्धु! कोई सहायक नहीं है; अन्तर में भगवान चैतन्य ही आनन्द से परिपूर्ण है; उसी की भावना इस दु:ख से छुड़ानेवाली है; चैतन्य भावना के अतिरिक्त अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है; अन्य कोई सहायक नहीं है। इस शरीर और इन प्रतिकूल संयोगों से पार चैतन्यस्वरूपी आत्मा है—ऐसे भेदज्ञान की भावना के अतिरिक्त जगत में अन्य कोई दु:ख से बचानेवाला नहीं है, कोई शरण नहीं है। इसलिए भाई! एक बार संयोग को भूल जा... और अन्तर में चैतन्यतत्त्व आनन्दस्वरूप है, उसके सन्मुख देख; वह एक ही शरण है। पूर्वकाल में आत्मा की दरकार नहीं की और पाप करते समय पीछे मुड़कर नहीं देखा, इसलिए यह नरक में अवतार हुआ... अब तो इसी स्थिति में हजारों वर्ष की आयु पूर्ण करना होगी... संयोग नहीं बदलेगा, अपना लक्ष्य बदल दे... आत्मा संयोग से पृथक् है, उस पर लक्ष्य कर।

संयोग में तेरा दु:ख नहीं है; अपने आनन्द को भूलकर तूने ही मोह से दु:ख उत्पन्न किया है; इसलिए एक बार संयोग को और आत्मा को भिन्न जानकर, संयोग की भावना छोड़ और चैतन्य की भावना कर। मैं तो ज्ञानमूर्ति-आनन्दमूर्ति हूँ; यह संयोग और यह दु:ख—इन दोनों से मेरा आत्मस्वभाव पृथक् आनन्द की मूर्ति है। ऐसे आत्मा का निर्णय करके उसकी भावना करना ही दु:ख के नाश का उपाय है। चैतन्य की भावना में दु:ख कभी प्रवेश नहीं कर सकता। 'जहाँ कभी दु:ख प्रवेश न कर सके, वहीं निवास करना चाहिये...' चैतन्यस्वरूप आत्मा की भावना में आनन्द का वेदन है, उसमें दु:ख का प्रवेश नहीं है... ऐसे चैतन्य में एकाग्र होकर निवास करना ही दु:ख से छूटने का उपाय है। कषायों से संतृप्त आत्मा को अपने शुद्धस्वरूप का चिन्तन ही उससे छूटने का

उपाय है। इसलिए 'जिनेन्द्रबुद्धि' श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि हे अन्तरात्मा! राग-द्वेषादि विभावों की उत्पत्ति रोकने के लिये स्वस्थ होकर अपने शुद्ध आत्मा की भावना कर... उसके चिन्तन से तेरे विभाव क्षणमात्र में शान्त हो जायेंगे। अज्ञानी जीवों को सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये भी चैतन्य की भावना ही उपाय है।

जिस प्रकार प्रचण्ड ग्रीष्मातप से संतृप्त प्राणी, वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय लेते हैं; उसी प्रकार इस संसार के घोर संताप से व्याकुल जीवों को चिदानन्दस्वभाव की शीतल छाया ही शरणरूप है, उसी के आश्रय से शान्ति प्राप्त होती है।

धर्मी जानता है कि अहो! मेरे चैतन्यवृक्ष की छाया ऐसी शान्त-शीतल है कि उसमें मोहसूर्य की प्रचण्ड किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं; इसलिए मोहजनित विभावों के आतप से बचने के लिये मैं अपने शान्त-शीतल-उपशान्त-आनन्दमय चैतन्यतत्त्व की छाया में ही जाता हूँ—चैतन्यस्वभाव की ही भावना करता हूँ ॥३९॥

राग-द्वेष के विषयरूप जो शरीर, उसका प्रेम छोड़कर, उससे भिन्न ऐसे ज्ञायकशरीरी आत्मा में प्रेम कर—ऐसा अब उपदेश देते हैं:—

यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।
बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति॥४०॥

जिस शरीर, शिष्य आदि में मुनि को किञ्चित् प्रेम हो, उनसे भेदज्ञान की बुद्धि द्वारा अपने आत्मा को पृथक् करके, ज्ञानानन्दस्वरूप उत्तम काय में, अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकाय में अपना चित्त लगाये; इस प्रकार शुद्धात्मस्वरूप में चित्त लगाने पर, उससे बाह्य ऐसे शरीरादि का स्नेह नष्ट हो जाता है। चैतन्य के आनन्द में जिसका चित्त लगा है, उसका चित्त जगत के किसी भी विषय में नहीं लगता। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्दरस के समक्ष जगत के समस्त रस उसे नीरस मालूम होते हैं; चैतन्य के उत्साह के समक्ष देहादि की क्रिया की ओर का उत्साह नष्ट हो जाता है। जब तक इस जीव को अपने निजानन्दमय निराकुल शान्त उपवन में क्रीड़ा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता, तभी तक वह मल, मूत्र और माँस से परिपूर्ण ऐसे अपवित्र शरीर में तथा इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहता है परन्तु पुरुषार्थ के अपूर्व बल द्वारा जब वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है और उसका विवेक-ज्ञान जागृत होता है, तब वह अपने उपशान्त चैतन्य उपवन में निजानन्दमय सुधारस का पान करने लगता है तथा बाह्य इन्द्रियविषयों को अत्यन्त नीरस, पराधीन और हेय समझकर उनसे अत्यन्त

उदासीन हो जाता है। चैतन्य के अनुभव में बारम्बार उपयोग को लगाने से, बाह्य पदार्थों की ओर का प्रेम सर्वथा छूटकर वह वीतराग हो जाता है और फिर पूर्ण परमानन्द प्रगट करके परमात्मा हो जाता है। इसलिए कहते हैं कि हे मुमुक्षु! तू अपने चित्त के उपयोग को बारम्बार उस चैतन्यस्वरूप में लगा।

देखो, भावलिङ्गी सन्त-मुनि को समाधिमरण का अवसर हो, आस-पास अन्य मुनि बैठे हों... वहाँ उन मुनि को कभी कदाचित् पानी पीने की इच्छा हो और पानी माँगे कि 'पानी!' तो वहाँ दूसरे मुनि उन्हें वात्सल्यपूर्ण सम्बोधन करते हैं कि अरे मुनि!! अन्तर में निर्विकल्परस का पान करो! अन्तर में भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्दसागर में से आनन्दामृत पियो... यह पानी की वृत्ति छोड़ दो... इस समय समाधि का अवसर है... अनन्त बार समुद्र भर जाये इतना जल पिया... तथापि तृषा शान्त नहीं हुई... इसलिए इस पानी को भूल जाओ... और अन्तर के निर्विकल्प अमृत का पान करो... निर्विकल्प आनन्द में लीन होओ...!

निर्विकल्पसमुत्पन्नं ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा तत् पिबंति तपस्विनः॥

वे मुनि भी तुरन्त पानी की वृत्ति छोड़कर, निर्विकल्प होकर, अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करते हैं और इस प्रकार अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिसहित देह-त्याग करते हैं।

★

निश्चय.... मुख्य-उपादेय
व्यवहार... गौण-हेय।

अतीन्द्रिय आत्मिक-सुख ही वास्तविक-निश्चय सुख है; वही मुख्य है और वही उपादेय है।

ऐन्द्रिय सुख वह वास्तव में सुख नहीं है किन्तु सुख के उपचारमात्र है—सुख का उसमें मात्र व्यवहार किया जाता है।

वह गौण है और वह हेय है। *(—प्रवचनसार, गाथा ५३)*

मोक्षमार्गी मुनिवर

(श्री प्रवचनसार के प्रवचनों से; गाथा २२०-२२१ तथा गाथा १९१ से १९५)

प्रश्न- मोक्षमार्गी मुनिवर कैसे होते हैं ?

उत्तर- जिन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपरिणति प्रगट करके अंतर में तो अशुद्ध उपयोग को छोड़ा है और बाह्य में समस्त परिग्रह को छोड़ा है—ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर होते हैं।

प्रश्न- जहाँ वस्त्रादि का ग्रहण हो, वहाँ मुनिदशा होती है या नहीं ?

उत्तर- वस्त्रादि का ग्रहण हो, वहाँ मुनिदशा नहीं होती-ऐसा नियम है।

प्रश्न- वस्त्रादि का ग्रहण हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ?

उत्तर- वस्त्रादि का ग्रहण होने पर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है।

प्रश्न- जो वस्त्रादि परिग्रहसहित मुनिपना माने, उसे सम्यग्दर्शन होता है ?

उत्तर- नहीं; जो वस्त्रादि परिग्रहसहित मुनिपना मानता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि वह कुगुरु को गुरु मानता है। उसे देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

प्रश्न- बाह्य में भले ही वस्त्रादि हों, किन्तु अन्तर में शुद्ध परिणति प्रगट हुई हो तो मुनिपना क्यों नहीं होगा ?

उत्तर- जिसके अन्तर में मुनिदशा के योग्य शुद्धपरिणति प्रगट हुई हो, उसे अशुद्ध परिणति छूट ही जाती है और अशुद्ध परिणति छूट जाने पर उसके निमित्तरूप वस्त्रादि का ग्रहण भी वहाँ सहज ही छूट जाता है—ऐसा नियम है। और जहाँ वस्त्रादि का ग्रहण हो, वहाँ उसप्रकार की अशुद्धपरिणति भी होती ही है; इसलिये उसे मुनिपना नहीं होता। और फिर भी मुनिपना माने तो सम्यग्दर्शन भी नहीं होता।

—इसप्रकार जहाँ बाह्य परिग्रह का ग्रहण है, वहाँ अंतरंग अशुद्धि भी दूर नहीं हुई—भूसीवाले चावल के दृष्टान्त से।

प्रश्न- चावल का दृष्टान्त कैसा है ?

उत्तर- जिसप्रकार, बाहरी भूसी के सद्भाव में चावल के ऊपर का लालपन दूर नहीं हुआ है; उसीप्रकार जहाँ बाह्य परिग्रह का सद्भाव है, वहाँ तत्सम्बन्धी भीतर की अशुद्धपरिणति दूर नहीं हुई है। जिस चावल का लालपन दूर हो जाता है, उसके ऊपर की भूसी भी छूट ही जाना चाहिये;

उसीप्रकार जिस आत्मा के अंतर में से रागरूपी लालपन छूट गया हो, उसे बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह भी छूट ही गया होता है। कभी ऐसा हो सकता है कि चावल के ऊपर की भूसी छूट गई हो किन्तु उसका लालपन दूर न हुआ हो; उसीप्रकार बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो किन्तु अंतर का मोह दूर न हुआ हो—ऐसा हो सकता है; किन्तु अन्तर में जिसका मोह छूटा, उसे बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह हो—ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता।

प्रश्न- वस्त्रादि तो परद्रव्य है और परद्रव्य किसी आत्मा को बाधक नहीं होता—ऐसा सिद्धान्त है, तो फिर जिसे वस्त्रादि का ग्रहण हो उसे, मुनिपना नहीं होता—ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर- जहाँ वस्त्रादि परिग्रह का सद्भाव है, वहाँ मुनिपना नहीं होता, क्योंकि उस वस्त्रादि परिग्रह के सद्भाव में प्रथम तो ममत्व-परिणामरूप मूर्च्छा होती है; दूसरे, उन वस्त्रादि को धोने-रखने आदि प्रकार से उस परिग्रह की व्यवस्था के परिणामरूप आरम्भ भी होता है;—इसप्रकार मूर्च्छा और आरम्भ के सद्भाव में मुनिपना कहाँ से हो ? अथवा उस परिग्रहवाले जीव को परद्रव्य में प्रवृत्तिरूप अशुद्धता है और उस अशुद्धता द्वारा शुद्धात्मस्वरूप की हिंसा होती है, इसलिये उसे शुद्धात्मस्वरूप की हिंसारूप असंयम अवश्य होता है; उस असंयमी को मुनिपना कहाँ से होगा ?—नहीं हो सकता। अविरत सम्यग्दृष्टि को श्रद्धा अपेक्षा मूर्च्छा नहीं है किन्तु मुनिदशा में तो चारित्र अपेक्षा भी मूर्छा रहितपना होने से वस्त्रसहितपना कभी नहीं हो सकता।

प्रश्न- वस्त्रादि परिग्रह कैसा है ?

उत्तर- वस्त्रादि परिग्रह आत्मा के लिये परद्रव्य है।

प्रश्न- जिसने वस्त्रादि परिग्रह ग्रहण किया हो, वह जीव कैसा है ?

उत्तर- जिसने वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण किया है, वह जीव परद्रव्य में रत है।

प्रश्न- परद्रव्य में रत जीव को साधुपना क्यों नहीं होता ?

उत्तर- जो जीव परद्रव्य में रत हो, वह स्वद्रव्यरूप शुद्धात्मा को किसप्रकार साधेगा ? परद्रव्य में लीनता के कारण उसे शुद्धात्मद्रव्य के साधकत्व का अभाव होता है, इसलिये उसे साधुपना नहीं होता।

प्रश्न- मुनिपने में परिणमित होनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर- प्रथम तो, मेरा शुद्ध आत्मा ही मुझे ध्रुव है, इसके अतिरिक्त अन्य समस्त परद्रव्यों का संयोग अध्रुव है; इसलिये शुद्धात्मा की उपलब्धि ही मेरे लिये योग्य है—ऐसा निर्णय करके

शुद्धात्मा में प्रवृत्ति द्वारा जिसने मिथ्यात्व का नाश किया है और फिर उस शुद्धात्मा में ही उग्र प्रवृत्ति द्वारा तीन प्रकार के कषायरूप राग-द्वेष का भी नाश करके जो जीव सुख-दुःख में समभावी हुआ है, वह जीव श्रामण्य में परिणमित होता है, अर्थात् वह मोक्षमार्गी मुनिराज है।

प्रश्न- मोक्षमार्गी मुनिवरों को क्या उपलब्ध करने योग्य है ?

उत्तर- ऐसे मुनिवरों को अपना शुद्ध आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है। शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही मोक्षमार्ग होता है।

प्रश्न- शुद्धात्मा की उपलब्धि कैसे होती है ?

उत्तर- मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं; मैं एक ज्ञान हूँ, शुद्ध ज्ञान ही मेरा स्व है-इसप्रकार स्व-पर को अत्यन्त भिन्न जानकर जो जीव, परद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धात्मा को ध्यान में ध्याता है, उसे शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। यही शुद्धात्मा को उपलब्ध करने की रीति है। मोक्षमार्गी जीव इसप्रकार अपने शुद्धात्मा को ही उपलब्ध करता है।

प्रश्न- शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है ?

उत्तर- शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोह का क्षय होकर मोक्ष के अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

—इसप्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि द्वारा मोक्षमार्गी मुनिवर मोह का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करते हैं; ऐसे मुनिवरों को हमारा नमस्कार हो!

ज्ञान-दीपक

ज्ञान को अंतर्मुख करके जिसने आत्मा में प्रकाश किया... ज्ञान-दीपक से आत्मा को प्रकाशित किया... वह जीव वास्तव में 'धर्म-दिवाकर' है; उसके आत्मा के असंख्य प्रदेशों में ज्ञान-दीपक प्रगट हो गये हैं तथा अज्ञानान्धकार का नाश हो गया है। अभी तो जिसे ज्ञानप्रकाशी आत्मा का भान नहीं है, आत्मा में ज्ञान-दीपक जलाकर अज्ञानान्धकार का नाश नहीं किया है, वह 'धर्म-दिवाकर कैसा ? चिदानन्द तत्त्व में सम्यक् श्रद्धा की चिनगारी द्वारा जिन्होंने अतीन्द्रिय ज्ञान से जगमगाते हुए दीपक प्रज्वलित किये हैं, ऐसे धर्मात्मा ही सच्चे धर्म-दिवाकर हैं।

आत्मार्थी-सम्बोधन

आत्मार्थ के लिये सच्ची तत्परता

यह जीव कभी-कभी जगत के छोटे-बड़े विविध प्रसंगों में उलझ जाता है... और तत्सम्बन्धी मनोमंथन से बाहर नहीं निकल सकता... परिणामतः वह आत्म प्रयत्न में आगे नहीं बढ़ पाता। उसकी जागृति के हेतु सम्बोधन का एक प्रकार यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

हे जीव!

तेरे आत्मार्थ के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं है, ऐसी छोटी-छोटी बातों में तू रुकेगा, तो अपने महान आत्मप्रयोजन को कब सिद्ध कर पायेगा? जगत में अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रसंग तो बनते ही रहेंगे; तीर्थंकर तथा चक्रवर्तियों के जीवन में ऐसे प्रसंग कहाँ नहीं आये? बड़े-बड़े मुनियों और धर्मात्माओं को भी इन प्रसंगों में से अपना मार्ग निकालना पड़ा। मान-अपमान, निंदा-प्रशंसा, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, रोग-निरोग ऐसे अनेक परिवर्तनशील प्रसंग तो इस जगत में बनते ही रहते हैं; किन्तु तुझ जैसा आत्मार्थी यदि इन छोटे-छोटे प्रसंगों में ही आत्मा को रोक देगा तो आत्मार्थ के महानकार्य की साधना कब करेगा?

इसलिये ऐसे प्रसंगों की अत्यन्त उपेक्षा कर... उनमें अपनी किंचित् शक्ति न लगा। उन प्रसंगों को तेरे आत्मार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा निर्णय करके जिसमें आत्मार्थ की सिद्धि हो सके, तदनुसार प्रवर्तन कर! तथा आत्मार्थ की सिद्धि में बाधक हों, ऐसे परिणामों को अत्यन्तरूप से छोड़.... उग्ररूप से छोड़।

विविध परिणामवाले जीव भी जगत में वर्तते ही रहेंगे... इसलिये उनका भी खेद-विचार छोड़... तथा उपरोक्त संयोगों की भाँति उनके साथ भी आत्मार्थ का सम्बन्ध नहीं है—ऐसा समझकर उनके प्रति भी उपेक्षा कर... तथा आत्मार्थ साधन में ही उग्ररूप से तत्पर हो!

मुझे तो किसी भी प्रकार अपने आत्मा का हित करना है और वही इस जगत में मेरा कर्तव्य है—ऐसा दृढ़ निश्चयी बन! अपने आत्मार्थ के लिये जो कुछ सहन करना पड़ेगा, वह सब सहने के लिये मैं तैयार हूँ, किन्तु किसी प्रकार मैं उससे डिगूँगा नहीं- शिथिल नहीं होऊँगा... आत्मा के प्रति अपने उत्साह में मैं किंचित् विक्षेप नहीं पड़ने दूँगा; अपनी समग्र शक्ति को, समग्र ज्ञान को, समग्र

वैराग्य को–अपनी श्रद्धा–भक्ति–उत्साह को... यानी अपने सर्वस्व को मैं अपने आत्मार्थ में लगाकर... अवश्य ही उसे प्राप्त करूँगा।—ऐसे दृढ़ परिणावम द्वारा आत्मार्थ साधने के लिये तत्पर हो।

आत्मार्थ–साधना की ऐसी सच्ची तत्परता होगी तो जगत में किसी की शक्ति नहीं है कि तेरे आत्मकार्य में विघ्न डाल सके। जहाँ आत्मार्थ की सच्ची तत्परता है, वहाँ सम्पूर्ण जगत उसके लिये आत्मार्थ प्राप्ति में अनुकूल परिणमित हो जाता है तथा वह जीव अवश्य ही आत्मार्थ की साधना कर लेता है।

इसलिये हे जीव! जगत में अन्य सब कुछ भूलकर तू अपने आत्मार्थ में तत्पर हो!

जिनवर का मार्ग

- जिनवर का मार्ग कौन सा है ?
  निज आत्मा में लीन होना, वह जिनवर का मार्ग है।
- जिनवर के मार्ग को पाकर पण्डित क्या करते हैं ?
  पण्डित अर्थात् भेदज्ञानी–धर्मात्मा, वे जिनवर के मार्ग को प्राप्त कर निजात्मा में लीन होते हैं।
- जो जीव, राग में लीन होता है अर्थात् राग से लाभ मानता है, वह जीव जिनमार्ग को प्राप्त नहीं है; निज आत्मा में जो रत है, वही जिनमार्ग को प्राप्त हुआ है और वही मोक्ष प्राप्त करता है। निज आत्मा से रत होने के अतिरिक्त अन्य कोई जिनमार्ग या मोक्षमार्ग नहीं है।
- निज आत्मा में रत होकर शुद्ध रत्नत्रय प्रगट करना ही जिनमार्ग में कर्तव्य है; रागादि भाव, वह जिनमार्ग में कर्तव्य नहीं है।

(—नियमसार, कलश-९ के प्रवचन से)

व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि....

देखो, इसमें निश्चय-व्यवहार की सरस संधि है। 'भाई! अपने आत्मा को बंधन से छुड़ाने के लिये तू मोक्ष का उपाय कर,'—इसप्रकार मोक्षमार्ग के ग्रहण का उपदेश करना, वह व्यवहारनय से है।—किन्तु मोक्षमार्ग का ग्रहण किसप्रकार होता है?—वह कहीं व्यवहारनय के अवलम्बन से नहीं होता, वह तो निश्चय स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिये सार यह है कि—जानना तो चाहिये निश्चय और व्यवहार दोनों को, किन्तु आश्रय करना चाहिये एक निश्चय का।—यह मोक्षमार्ग साधने की रीति है। विशेष के लिये यह प्रवचन पढ़ें।

[वीर संवत् २४८५, आश्विन कृष्णा १४ तथा ३०]

आचार्यदेव ने जीव-अजीव का भेदज्ञान कराके, शरीर से और राग से भिन्न शुद्ध जीव का स्वरूप बतलाया। शरीर या रागादि वे वास्तव में जीव नहीं हैं; जीव तो चैतन्यमय ही है; क्योंकि भेदज्ञानी स्वयं स्वानुभव से शरीर तथा राग से भिन्न उस चैतन्यस्वरूप का अनुभव करते हैं।

—ऐसा शुद्ध जीव का स्वरूप सुनकर व्यवहार के पक्षवाला शिष्य, शास्त्र के व्यवहार कथन का आधार देकर पूछता है कि प्रभो! यह रागादि और देहादि यदि जीव नहीं हैं तो भगवान के आगम में उनका जीवरूप में वर्णन क्यों किया है? रागी जीव, द्वेषी जीव, एकेन्द्रिय जीव, पंचेन्द्रिय जीव इत्यादि कथनों से राग को और देह को जीवरूप में क्यों कहा है? उसके उत्तर में आचार्यदेव यह ४६वीं गाथा कहते हैं:—

ववहारस्स दरिसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवाएदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा॥४६॥

हे शिष्य! परमार्थतः देह और रागादि से भिन्न चैतन्यस्वभाव होने पर भी, 'रागी जीव, पंचेन्द्रिय जीव आदि' कथन जिनवर आगम में किया है वह, व्यवहारनय को दर्शाया है। अर्थात् पर्याय में उसप्रकार का राग तथा शरीर के साथ का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, उसका भी ज्ञान कराया है।

व्यवहारनय का ज्ञान कराया है, उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि उस व्यवहार के आश्रय से कुछ लाभ होता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है, उसके आश्रय से कुछ भी लाभ नहीं होता,

तथापि भगवान ने उस 'व्यवहार का भी' ज्ञान कराया है। 'व्यवहार का भी' अर्थात् निश्चय से जीव का जो शुद्ध स्वभाव है, उसका ज्ञान कराके, उसके साथ-साथ पर्याय के व्यवहार का भी ज्ञान कराया है।

अब प्रश्न होता है कि—यदि व्यवहार अभूतार्थ है तो वह किसलिये दर्शाते हैं? तब आचार्यदेव कहते हैं कि सुन! यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है, तथापि व्यवहार को भी दर्शाया है; क्योंकि वह व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहनेवाला है, इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये उसे दर्शाना न्यायसंगत ही है।

देखो, यह निश्चय-व्यवहार की संधि! शुद्ध स्वभाव को जाननेवाला धर्मात्मा पर्याय में अशुद्धता आदि को भी जानता तो है। पर्याय में जैसा हो वैसा जानना, वह तो ठीक न्यायसंगत ही है। व्यवहार को अभूतार्थ कहा, उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि उसका ज्ञान भी नहीं करना चाहिये। ज्ञान तो करना चाहिये, किन्तु उसका आश्रय नहीं करना चाहिये, उसी को जीव का स्वरूप नहीं मान लेना चाहिये।

जिसका लक्ष शुद्ध जीव पर नहीं है किन्तु राग पर तथा शरीर पर है, उसे 'रागी जीव, पंचेन्द्रिय जीव, ज्ञानी जीव, अज्ञानी जीव'—ऐसे जीव के भेदों द्वारा जीव का स्वरूप समझाते हैं, अर्थात् व्यवहार द्वारा परमार्थ का प्रतिपादन किया जाता है। 'व्यवहार के अवलम्बन से परमार्थ की प्राप्ति होती है'—ऐसा नहीं कहा, परन्तु व्यवहार द्वारा परमार्थ का प्रतिपादन होता है—ऐसा कहा है। इसप्रकार भगवान ने व्यवहार कहा है, तथापि आचार्यदेव ने आठवीं गाथा में स्पष्ट कहा है कि वह व्यवहारनय अनुसरण करनेयोग्य नहीं है।—'व्यवहारनयो न अनुसर्त्तव्यः।'

जिनमत में दोनों नय कहे हैं, उन्हें छोड़ना नहीं; यानी निश्चय और व्यवहार दोनों को यथावत् जानना।—किन्तु दोनों को जानकर करना क्या?—तो कहते हैं कि शुद्ध स्वभाव की ओर ढलना और व्यवहार को अभूतार्थ जानकर उसका आश्रय छोड़ना।

रागादिभाव जीव का परमार्थ स्वभाव नहीं है, तथापि उन्हें जीव के साथ जितना सम्बन्ध है, उतना जानना चाहिये। पर्याय में राग होता हो और ऐसा जाने कि हमें पर्याय में भी राग नहीं है, तो उसका ज्ञान मिथ्या हुआ। इसलिये व्यवहारनय जानना और कहना न्यायसंगत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान के साथ मेलवाला है।

परमार्थतः जीव त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप एकाकार है, तथापि जीव की पर्याय में चौदह

गुणस्थान, जीवस्थान आदि प्रकार हैं, उन्हें भी ज्यों का त्यों जानना चाहिये तथा प्रत्येक गुणस्थान की जो स्थिति हो, उसे बराबर समझना चाहिये। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी के कौन-सा राग छूट जाता है और कौन-सा रहता है, तथा छठवें गुणस्थान में मुनि को कैसा राग रहता है और कैसा छूटा जाता है—वह बराबर जानना चाहिये। जीव तो वस्त्र से पृथक् है; फिर छठवें गुणस्थान में वस्त्र रहें तो क्या आपत्ति है ?—ऐसा कोई माने तो उसे व्यवहार या निश्चय एक की भी खबर नहीं है। और मुनि को पंच महाव्रतादि के शुभ विकल्प होते हैं—ऐसा बतलाया, वहाँ उन विकल्पों के आश्रय से लाभ होना मान ले तो उसने व्यवहार को ही परमार्थ मान लिया है, इसलिये उसे भी निश्चय या व्यवहार एक का भी भान नहीं है। निश्चय और व्यवहार दोनों को यथावत्-ज्यों का त्यों जानना चाहिये।

शास्त्रों में बंध-मोक्ष का तथा उसके कारणों को जो वर्णन किया है, वह सब व्यवहारनय के विषय में आता है। व्यवहार से शरीर और कर्म के साथ जीव का सम्बन्ध, राग-द्वेष से जीव को बंधन, वीतरागता से जीव की मुक्ति—ऐसा बतलानेवाले व्यवहारनय को यदि न माना जाये तो बंध और मोक्ष दोनों का अभाव सिद्ध होता है। बंधन ही स्वीकार न करे तो फिर मोक्ष का उपाय किसलिये करेगा ?—इसलिये व्यवहार से जीव को बंधन है, उसे यदि स्वीकार न किया जाये तो मोक्षमार्ग का ग्रहण करना भी कहाँ रहा ? और शास्त्र का मोक्षमार्ग सम्बन्धी उपदेश भी निरर्थक गया ! इसलिये व्यवहार को दर्शाना न्यायसंगत ही है।

देखो न, मारने का-हिंसा का भाव कब आता है ?—कि जीव और शरीर का सम्बन्ध स्वीकार करे तब; अर्थात् व्यवहार को लक्ष में लेता है तभी। निश्चय से तो प्रत्येक जीव 'ज्ञायक स्वभावी अरूपी अमर' है, वह तो मरता नहीं है, तथा 'मैं ज्ञायकस्वभाव का हनन करूँ'—ऐसा विकल्प भी किसी को नहीं आता। सिद्ध भगवान को मार डालूँ—ऐसा भाव क्या किसी को आयेगा ? नहीं आयेगा। भरत-बाहुबलि को परस्पर युद्ध करने का भाव आया, किन्तु क्या किसी को सिद्ध भगवान से युद्ध करने का भाव आयेगा ?—नहीं; क्योंकि उन्हें शरीर के साथ सम्बन्धरूप व्यवहार ही नहीं रहा। इसलिये हिंसादि का भाव ही वहाँ है कि जहाँ व्यवहार है। निश्चय में तो हिंसादि भाव होते नहीं हैं; अथवा निश्चयस्वभाव को लक्ष में लेकर जो उसमें स्थिर हो गया हो, उसे भी हिंसादि भाव नहीं होते; किन्तु जहाँ हिंसादि भाव है, वहाँ व्यवहार है, बंधन है,—ऐसा जानना चाहिये। और जहाँ बंधन है, वहाँ उस बंधन से छूटने का उपाय भी जानना चाहिये। —इसप्रकार बंधन और उससे छूटने का उपाय—यह दोनों व्यवहार के बिना सिद्ध नहीं होते।

इसलिये भगवान ने आगम में व्यवहार भी दर्शाया है। भले ही भगवान ने व्यवहार दर्शाया है, तथापि वह है तो अभूतार्थ ही! अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारी जीवों को वह व्यवहार भी जानना चाहिये।—अकेले व्यवहार को जानने की बात नहीं है, किन्तु '**व्यवहार को भी**' ऐसा कहकर निश्चय सहित व्यवहार को भी जानना कहा है। निश्चय को जाने बिना मात्र व्यवहार में ही जो तल्लीन है, वह तो व्यवहार मूढ़ है, उसे तो व्यवहार या निश्चय-एक का भी मान नहीं है। और **पर्याय में जिस-जिस प्रकार का व्यवहार है, उसे जो स्वीकार नहीं करता, वह भी स्वच्छन्दी शुष्क ज्ञानी है।**

निश्चय के लक्ष्यवाला जीव अपनी पर्याय में जैसा-जैसा व्यवहार हो, उसे भी जानता है। निश्चय और व्यवहार दोनों को जानने पर भी उसे निरंतर निश्चय स्वभाव का ही आधार रहता है। 'निश्चय से मेरा आत्मा राग-द्वेष-मोह रहित है'—ऐसा यथार्थ भान होने पर भी, पर्याय में जितने राग-द्वेष-मोह हैं, उन्हें व्यवहार से अपना जानकर दूर करने का उद्यम वर्तता है। शास्त्र भी उपदेश देते हैं कि 'अरे जीव! राग-द्वेष-मोह से तेरा आत्मा बँधता है; इसलिये उसे तू छोड़ और मोक्ष का उपाय अंगीकार कर.... वीतरागी मोक्षमार्ग की आराधना करके अपने आत्मा को बंधन से छुड़ा!' इसप्रकार जीव को व्यवहार से बंधन है, वह बतलाकर उससे छूटने का उपदेश भगवान ने किया है, वह न्यायसंगत ही है।

देखो, इसमें निश्चय-व्यवहार की सरस संधि है। 'भाई! अपने आत्मा को बंधन से छुड़ाने के लिये तू मोक्ष का उपाय कर,'—इसप्रकार मोक्षमार्ग के ग्रहण का उपदेश करना, वह व्यवहारनय से है।—किन्तु मोक्षमार्ग का ग्रहण किसप्रकार होता है?—वह कहीं व्यवहार के अवलम्बन से नहीं होता, वह तो निश्चय स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। इसलिये सार यह है कि—जानना तो चाहिये निश्चय और व्यवहार दोनों को, किन्तु आश्रय करना चाहिये एक निश्चय का।—यह मोक्षमार्ग साधने की रीति है। ●●●

(सेठ श्री वच्छराजजी गंगवाल कलकत्तावालों ने इस ४६वीं गाथा के प्रवचनों का टेप-रिकार्डिंग करने की इच्छा प्रदर्शित की थी, इसलिये इस पर दुबारा प्रवचन हुए थे... उनमें से जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी महत्वपूर्ण सार यहाँ दिया गया है। जिन्हें यह प्रवचन विशेष विस्तार पूर्वक पढ़ने की इच्छा हो, वे पूज्य बेन श्रीबेन लिखित 'समयसार प्रवचन' भाग-३ का स्वाध्याय करें। उसमें अनेक दृष्टान्त आदि से विस्तारपूर्वक निश्चय-व्यवहार का स्पष्टीकरण है।) ●●●

सम्यग्दर्शन

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञानदशा। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है, उसकी पहिचान करके ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से पूर्णज्ञान का विकास प्रगट हो जाए, उसका नाम केवलज्ञान है। वह ज्ञान सर्व पदार्थों को और उनकी समस्त पर्यायों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानता है। जिसका स्वभाव ही ज्ञान है, वह किसे नहीं जानेगा? अपूर्ण जाने या रुक-रुककर क्रमशः जाने, अथवा तो परोक्ष जाने—ऐसा ज्ञान का स्वरूप नहीं होता। स्व-पर समस्त पदार्थों को एक समय में प्रत्यक्ष, बिना किसी का अवलम्बन लिये जानने का ज्ञानस्वभाव का सामर्थ्य है। केवलज्ञान होने पर वह सामर्थ्य पूर्णतः प्रगट हो जाता है और उसमें तीनकाल-तीनलोक के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय एकसाथ स्पष्ट ज्ञात होते हैं। ऐसा केवलज्ञानस्वभाव प्रत्येक चैतन्य में प्रतिसमय शक्तिरूप से विद्यमान है; उसका विश्वास करके उसमें अन्तर्मुख होने से वह शक्ति व्यक्त—कार्यरूप होती है। केवलज्ञान भूतकाल की अनंत पर्यायों को और भविष्य की अनंत पर्यायों को भी वर्तमान पर्याय जैसा स्पष्टरूप से जानता है। बहुत पहले की—भूतकाल की पर्यायें अस्पष्टरूप से ज्ञात हों और निकट की पर्यायें स्पष्टरूप से ज्ञात हों—ऐसा भेद उसमें नहीं है। वर्तमान पर्याय को वर्तमानरूप से जानता है और भूतकाल में जो पर्यायें हो गई हैं, उन्हें उसीप्रकार जानता है, तथा भविष्यकाल में जिस समय जो पर्यायें होंगी, उन्हें भी तदनुसार जानता है—परन्तु जानता तो वर्तमान में ही है। जानेवाला वर्तमान में ही त्रिकाल का ज्ञान कर लेता है। जब भविष्य की पर्याय होगी, तभी उसका ज्ञान होगा—ऐसा नहीं है, परन्तु वह पर्याय प्रगट होने से पूर्व ही केवलज्ञान के दिव्य सामर्थ्य में उसका ज्ञान हो गया है। सम्यग्दृष्टि को ऐसे केवलज्ञान की प्रतीति होती है, और उसके अपने आत्मद्रव्य में भी ऐसा परिपूर्ण सामर्थ्य वर्तमान में भरा है, उस सम्पूर्ण द्रव्य को भी सम्यग्दर्शन द्वारा प्रतीति में लिया है। केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है, तब श्रुतज्ञान उन्हें परोक्ष जानता है। शास्त्रों में ऐसा कथन आता है कि जितना केवलज्ञान का विषय है, उतना ही श्रुत-श्रुतज्ञान परोक्ष होने पर भी उसमें विपरीतता नहीं है; वह भी केवलज्ञान की ही जाति का है; और उसमें भी राग टूटकर जितन स्वसंवेदन हुआ है, उतनी ही प्रत्यक्षता है। प्रथम अपने परिपूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति और महिमा करके ज्यों-ज्यों उसका स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ज्ञान का विकास होता जाता है और अन्त में पूर्ण केवलज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो जाता है।—ऐसा केवलज्ञान का पंथ है। अपने ज्ञानस्वभाव के ही अवलम्बन के अतिरिक्त अन्य कोई केवलज्ञान का साधन नहीं है। *[—प्रवचन से]*

मोक्षमार्ग की सिद्धि के लिये

मुमुक्षु को क्या करना चाहिये ?

प्रश्न— धर्म क्या है ? अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग क्या है ?

उत्तर— 'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् चारित्र वास्तव में धर्म है, वही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

प्रश्न— चारित्र का अर्थ क्या है ?

उत्तर— शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा में चरना-प्रवर्तन करना, सो चारित्र है।

प्रश्न— ऐसे चारित्र के लिये प्रथम क्या होना चाहिये ?

उत्तर— चारित्र के लिये प्रथम तो स्व-पर के यथार्थस्वरूप का निश्चय करना चाहिये; क्योंकि जिसमें एकाग्र होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय किये बिना उसमें स्थिर कहाँ से होगा ? इसलिये प्रथम जिसमें स्थिर होना है, उस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करना चाहिये।

प्रश्न— वस्तु के स्वरूप का निश्चय किस प्रकार करना चाहिये ?

उत्तर— वस्तु के स्वरूप का निश्चय इसप्रकार करना चाहिये कि—इस जगत में मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; तथा मुझसे भिन्न इस जगत के जड़-चेतन समस्त पदार्थ मेरे ज्ञेय ही हैं। विश्व के पदार्थों के साथ मात्र ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध से विशेष मेरा अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है और न मैं किसी के कार्य का कर्ता हूँ; प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव सामर्थ्य से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप परिणमन कर रहा है; उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

जो जीव ऐसा निर्णय करे, वही पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर उपयोग को निजस्वरूप में लगाता है, इसलिये उसी को स्वरूप में चरणरूप चारित्र होता है। इसप्रकार चारित्र के लिये प्रथम वस्तुस्वरूप का निर्णय करना चाहिये।

प्रश्न— जो जीव वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं करता, उसका क्या होता है ?

उत्तर— जो जीव वस्तुस्वरूप का निर्णय नहीं करता उसका चित्त—'वस्तुस्वरूप किस प्रकार होगा!'—ऐसे सन्देह से सदा डाँवाडोल—अस्थिर—बना रहता है। और स्व-पर के भिन्न-भिनन स्वरूप का उसे निश्चय न होने के कारण परद्रव्य के कर्तृत्व की इच्छा से उसका चित्त सदा आकुल बना रहता है, तथा परद्रव्य का उपभोग करने की बुद्धि से उसमें राग-द्वेष के कारण उसका चित्त सदा कलुषित बना रहता है।—इसप्रकार वस्तुस्वरूप के निर्णय बिना जीव का चित्त सदा

डाँवाडोल और कलुषित रहने से उसकी स्वद्रव्य में स्थिरता नहीं हो सकती। जिसका चित्त डाँवाडोल तथा कलुषितरूप से परद्रव्य में ही भटकता हो, उसे स्वद्रव्य में प्रवृत्तिरूप चारित्र कहाँ से होगा ?—नहीं हो सकता; इसलिये जिसे पदार्थ के स्वरूप का निर्णय नहीं, उसे चारित्र नहीं होता।

प्रश्न—पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करनेवाला जीव कैसा होता है ?

उत्तर—वह जीव अपने आत्मा को कृतनिश्चय, निष्क्रिय तथा निर्भोग देखता है। उसे स्व-पर के स्वरूप सम्बन्धी सन्देह दूर हो गया है, परद्रव्य की किसी भी क्रिया को वह आत्मा की नहीं मानता तथा अपने आत्मा को परद्रव्य में प्रवृत्तिरूप क्रिया से रहित—निष्क्रिय देखता है, परद्रव्य के उपभोगरहित निर्भोग देखता है। ऐसे अपने स्वरूप को देखता हुआ वह जीव सन्देह तथा व्यग्रतारहित होता हुआ निजस्वरूप में एकाग्र होता है; निजस्वरूप की धुन का धुनी होकर उसमें स्थिर होता है। इसप्रकार वस्तुस्वरूप का निर्णय करनेवाले को ही चारित्र होता है।

प्रश्न—मोक्षमार्ग की साधक मुनिदशा किसे होती है ?

उत्तर—उपरोक्तानुसार वस्तुस्वरूप का निश्चय करके उसमें जो एकाग्र होता है, उसी को श्रामण्य अर्थात् मुनिपना होता है।

प्रश्न—श्रामण्य का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर—श्रामण्य का दूसरा नाम है मोक्षमार्ग। जहाँ मोक्षमार्ग है, वहीं श्रामण्य है; जिसे मोक्षमार्ग नहीं है, उसे श्रामण्य भी नहीं है।

प्रश्न—श्रामण्य कैसा है ?

उत्तर—श्रामण्य शुद्धात्मतत्त्व में प्रवृत्तिरूप है। स्व-पर की भिन्नता का निश्चय करके, स्वरूप में एकाग्रता द्वारा शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति करना, सो श्रामण्य है; वही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न—ऐसे मोक्षमार्ग को सर्वप्रकार से सिद्ध करने के लिये मुमुक्षु को क्या करना चाहिये ?

उत्तर—मोक्षमार्ग की सर्वप्रकार से सिद्धि करने के लिये मुमुक्षु को चाहिये कि—स्वयं सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित अनेकान्तमय शब्दब्रह्म में (अर्थात् आगम के अभ्यास में) निष्णात हो। यानी आगम में जिसप्रकार वस्तुस्वरूप कहा है, तदनुसार निश्चय करे। ऐसा निश्चय करने के पश्चात् एक स्वद्रव्य को ही मुख्य करके उसमें एकाग्ररूप से प्रवर्तन करना चाहिये।—यही मोक्षमार्ग की सिद्धि का उपाय है। *('प्रवचनसार' गाथा-२३२ के प्रवचन से)*

अंतरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र में

पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

(ता: १-४-५९)

प्रत्येक आत्मा शरीर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप है और उसमें सर्वज्ञ होने की शक्ति है।

आत्मा और परमाणु—यह जगत के सत् तत्त्व हैं; उस सत् का कभी विनाश नहीं होता और न कभी नई उत्पत्ति होती है, वह तीनों काल है, है और है.... त्रिकाल सत्रूप से स्थित रहकर वह प्रतिक्षण अपनी पर्याय का रूपान्तर करता है, कोई अन्य उसका कर्ता नहीं है।

आत्मा अनादिकालीन है; उसने अभी तक क्या किया ?-तो कहते हैं कि अपने स्वभाव को भूलकर विकार के कर्तारूप से चारगति में परिभ्रमण किया है। अनेक जीव अपने स्वभाव की प्रतीति करके परमात्मा भी हुए हैं। जैसे सर्वज्ञ परमात्मा हुए, वैसी ही शक्ति इस आत्मा में भी है। जिसप्रकार लैंडी पीपल में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति विद्यमान है, उसीप्रकार इस आत्मा में भी परिपूर्ण ज्ञान तथा आनन्द प्रगट होने की शक्ति भरी है, वह शक्ति अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही विकसित होती है, बाहर से नहीं आती। आत्मा का स्वभाव निरालम्बी है। तीर्थंकर भगवान समवसरण में अंतरिक्ष—आकाश में—बिना किसी अवलम्बन से विराजते हैं, उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव भी निरालम्बी है, वह स्वभाव प्रगट होने के लिये बाह्य का या राग का अवलम्बन नहीं है।

ऐसे निरालम्बी चैतन्यस्वभावोन्मुख होने से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। जिसप्रकार कच्चे चने का स्वाद कचायँधा होता है, उसीप्रकार चैतन्य स्वभाव के भान बिना अज्ञानरूपी कचाँध से आतमा को कषायरूपी कचायँधे स्वाद का वेदन होता है; किन्तु जिसप्रकार कच्चे चने को सेंक डालने पर उसके मीठे स्वाद का वेदन होता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि से आत्मा को सेंकने पर उसके मीठे स्वाद का अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। जिसप्रकार कच्चा चना बोने से उगता है, उसीप्रकार अज्ञानरूपी कचाँध से आत्मा चौरासी के चक्कर में पुन: पुन: भव धारण करता है, और जिसप्रकार कच्चे चने को सेंक डालने से वह फिर नहीं उगता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन होने पर आत्मा अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करता है; फिर वह भव धारण नहीं करता।

यहाँ आठवें अध्याय के चौथे श्लोक में श्री ज्ञानभूषण महाराज कहते हैं कि:—

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पनापसार्य सत्।
पिबन्ति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत् सुधी॥

जिसप्रकार तीव्र ताप के क्लेश से संतप्त प्राणी तृषा शांत करने के लिये काई दूर करके स्वच्छ मधुर जल पीता है, उसीप्रकार जो बुद्धिमान जीव, संसार के दुःख से छूटकर आत्म शांति चाहता है, वह भेदज्ञान द्वारा समस्त संसार के विकल्परूप काई को छोड़कर आत्मध्यानरूपी स्वच्छ अमृत का पान करता है; शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त परद्रव्य की ओर वह अपने चित्त को नहीं झुकने देता।

जीव ने चिदानंदस्वभाव की ओर उन्मुख होकर एक क्षण भी धर्म नहीं किया। यदि एक क्षण भी चिदानन्दस्वभावोन्मुख होकर धर्म करे तो अनंतकालीन जन्म-मरण का अंत आ जाये... और अनंतकाल में कभी नहीं हुए, ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव हो। जिसप्रकार तृषातुर मनुष्य काई को दूर करके स्वच्छ जल पीकर अपनी तृषा शांत करता है, उसीप्रकार मोक्षार्थी धर्मात्मा अंतर में स्वात्मध्यान द्वारा रागादि विकार को दूर करके, शुद्धज्ञानान्दस्वरूप आत्मा के अनुभव से परम शांत चैतन्यरस का पान करके आत्मा को संसार ताप से छुड़ाता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से जीव को शांति नहीं होती।

देखो भाई! इस मनुष्य भव का मिलना दुर्लभ है; इसकी सार्थकता तभी है, जब इसमें आत्मा के हित का उपाय किया जाये। यदि आत्महित की परवाह नहीं की तो इस मनुष्य भव को पाकर भी लाभ क्या हुआ? दो हाथ, दो पैर, दो आँखें और मुँह आदि तो बन्दर को भी प्राप्त हुए हैं, तो फिर बन्दर में और मनुष्य में अंतर क्या हुआ? बल्कि, बन्दर को तो एक लम्बी पूँछ भी मिली है... इसलिये शरीर के अवयवों से आत्मा को कोई लाभ नहीं है, आत्मा विवेकपूर्वक, सत्समागम से अपने स्वरूप को जानकर भवभ्रमण से छूटने का उपाय करे, तभी उसके अवतार की सफलता है।

भाई, यह शरीर तो जड़ है; उस जड़ के संयोग से कहीं तेरी महिमा नहीं है। तेरी महिमा तो तेरे चैतन्यस्वभाव से है। अरे रे! यह अमृतस्वरूप चैतन्यमूर्ति आत्मा अपने को भूलकर इस मृतक कलेवर में मूर्च्छित हो रहा है... शरीर और शरीर की क्रिया ही मैं हूँ—ऐसी मिथ्या मान्यता से वह मूर्च्छित (मोही-अज्ञानी) हो रहा है। वीतरागी संतों की वाणी उसे उसके अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत का अनुभव कराती है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

वचनामृत वीतरागनां, परम शांतरसमूल;
औषध जे भवरोगनां, कायरने प्रतिकूल॥

अहो! अंतर्मुख स्वभाव को बतलानेवाले वीतराग के वचन परम शांतरस का अनुभव कराते हैं और भवरोग को नष्ट करनेवाली महान औषधि हैं; परन्तु रागादि से लाभ माननेवाले बहिर्मुखी अज्ञानी जीव को वह वीतराग की वाणी प्रतिकूल पड़ती है। जो बहिर्मुखता से लाभ मानता है, उसे अंतर्मुखता की बात कैसे अच्छी लगेगी? वीतरागी संत कहते हैं कि अरे जीवो! शांतरस का अनुभव करने के लिये तुम अपने चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होओ... चैतन्यस्वभाव की सन्मुखता के सिवा जगत में बाहर कहीं भी शांति नहीं है। कोई हीरा-जवाहिरात की परख करनेवाला बड़ा जौहरी बन गया हो; किन्तु यदि चैतन्य-हीरे की परख न कर सके, तो उसका हित नहीं हो सकता? जगत का मूल्य आँकने वाला स्वयं अपने आत्मा का मूल्यांकन न कर सके तो उसकी सब जानकारी व्यर्थ है; इसलिये हे भाई! तू अपने आत्मा की पहिचान कर। अरे भगवान! तेरा आत्मा सिद्ध परमात्मा समान है, उसे तू एकबार लक्ष में तो ले! पाप और पुण्य के भाव आयें, किन्तु मेरा आत्मा उन पुण्य-पाप जितना नहीं है; वह तो पुण्य-पाप रहित चिदानन्दस्वरूप है—इसप्रकार एकबार अंतर्मुख लक्ष तो कर... आत्मा को लक्ष में लेकर उसका ध्यान करते ही तेरा आत्मा अंतर के अमृतसागर में निमग्न हो जायेगा और तेरे अनादिकालीन भव-क्लेश का अन्त आ जायेगा।—यह दु:ख का नाश करके अपूर्व आत्मशांति प्राप्त करने का उपाय है।

आनन्द ही हमें प्रिय है

धर्मी कहते हैं—

अपने आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अतिरिक्त इस जगत में अन्य कुछ भी हमें प्रिय नहीं है। हमारे आनन्द का हमारे आत्मा में ही समावेश होता है।

आत्मा में अंतर्मुख रहकर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन के अतिरिक्त अन्य कोई बहिर्मुख भाव हमें स्वप्न में भी प्रिय नहीं है।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥

अजीव का स्वामी अजीव

'यदि अजीव परद्रव्य का मैं परिग्रहण करूँ, तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो, और मैं भी अवश्यमेव उस अजीव का स्वामी होऊँ; तथा अजीव का स्वामी वास्तव में अजीव ही होता है।—इसप्रकार विवशरूप से—लाचारी से मुझे अजीवत्व आ जायेगा। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिये मुझे अजीवत्व न हो, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा; परद्रव्य के परिग्रहण की बुद्धि नहीं करूँगा।'—ऐसा जानता हुआ धर्मी जीव परद्रव्य किंचित् अपना नहीं मानता; पर से अत्यन्त भिन्न ज्ञायकस्वभावरूप से ही अपना अनुभव करता है; इसलिये उसे निश्चय है कि—

छेदाव, वा भेदाव, को लई जाव, नष्ट बनो भले,
वा अन्य को रीत जाव, पण परिग्रह नथी मारो खरे।

आचार्यदेव कहते हैं कि—यदि तूं अजीव को अपना मानकर उस अजीव का स्वामी होने जायेगा तो तू अजीव हो जायेगा! अर्थात् जीवतत्त्व तेरी श्रद्धा में नहीं रहेगा। इसलिये हे भाई! यदि तू अपनी श्रद्धा में अपने जीवतत्त्व को जीवित रखना चाहता है तो अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी ही जानकर उसी का स्वामी बन और अन्य का स्वामित्व छोड़। अज्ञानी जीव भ्रमवश पर में कर्तृत्व भोक्तृत्व मानता है किन्तु ज्ञानी को ऐसा भ्रम कभी भी नहीं होता।

झनझनाहट

पर से भिन्न चिदानन्द तत्त्व की बात सुनने पर अनेक लोगों को झनझनाहट-सी होती है कि—'यह क्या!' किन्तु भाई! सत्य बात तो यही है, इसे समझे बिना भव का अन्त नहीं आ सकता। वास्तव में तो यह बात सुनकर आत्मार्थी जीव को अंतर से स्वभाव की झनझनाहट उठना चाहिये कि—अहो! ऐसा है मेरा स्वभाव! यही स्वभाव मुझे साधने योग्य है! अभी तक अपना ऐसा स्वभाव मेरे लक्ष में नहीं आया था; किन्तु अब मैं अपने स्वभाव की साधना अवश्य करूँगा।—इसप्रकार स्वभाव की प्राप्ति के लिये जिसके अंतर में झनझनाहट जागृत होती है, वह जीव उसे अवश्य प्राप्त कर ही लेता है।

बंधन से छूटने का उपाय

[आचार्यदेव शिष्य की जिज्ञासा शांत करते हैं]

[समयसार गाथा ६९ से ७२ के प्रवचनों का दोहन: अंक १८४ से आगे]

भाई! ऐसा अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ है... अब तो अपने स्वभाव को लक्ष में ले! परभावों के प्रेम में पड़कर तूने कभी अपने आत्मा की दरकार नहीं की। एकबार स्वभाव को किंचित् लक्ष में लेते ही तुझे ऐसा लगेगा कि 'अहो! यही मुझे आदरणीय है.... इस स्वभाव को समझे बिना मैंने अभी तक का काल व्यर्थ ही गँवा दिया।'

समझ में न आये तब तक निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। 'जीवन में यही एक करने योग्य कार्य है'—इसप्रकार बहुमानपूर्वक उसी का प्रयत्न करना चाहिये। इस भेदज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई हित का उपाय नहीं है। एकबार जिसे भेदज्ञान हुआ, वह अवश्य ही मोक्षपद प्राप्त कर देगा।

(८१) भेदज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है, उसकी यह बात है। ज्ञान और राग को भिन्न जानकर निज ज्ञान में वर्तना, सो भेदज्ञान है; तथा ज्ञान और राग की भिन्नता को न जानकर उन्हें एकमेक मानकर राग में वर्तना, सो अज्ञान है। भेदज्ञान तो मोक्ष का मूल है और अज्ञान, संसार का मूल है।

(८२) भेदज्ञान में ज्ञानस्वरूप का आदर है और अज्ञान में राग का। जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्मा का आदर है, वहाँ पुण्य-पाप का आदर नहीं है। ज्ञानस्वरूप का आदर छोड़कर जो विकार का आदर करता है और विकार के कर्तारूप से परिणमित है, उसे विकार की प्रवृत्ति में ज्ञानरूप परिणमन नहीं होता किन्तु अज्ञान होता है। इस प्रकार अज्ञानमय ऐसी क्रोधादि प्रवृत्ति में तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा में भिन्नता है। जब ऐसी भिन्नता की प्रतीति होती है, तब जीव ज्ञानी होता हुआ क्रोधादि की प्रवृत्ति से पृथक् होकर ज्ञान में ही परिणमन करता है और तब उसे बंधन नहीं होता। इसप्रकार बंधन से छूटने की विधि भेदज्ञान ही है।

(८३) ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर जब जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ, तब उसने रत्नत्रय धर्म की उपासना की अर्थात् उसे 'पर्यूषण' ही है। पर्यूषण अर्थात् आराधना

अमुक दिनों में ही होती है और अन्य दिनों में नहीं होती, ऐसा नहीं है। जिस क्षण जीव चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसकी उपासना-आराधना करता है, उस क्षण उसे पर्यूषण ही है।

(८४) कुछ लोग तो मूल आराधना को भूलकर पर्यूषण के दिनों की उलझन में पड़े हैं। अरे, जिसकी उपासना करना है, उसका तो भान नहीं है फिर पर्यूषण कैसा?—आराधना किसकी? स्वभाव के बदले विभाव की आराधना (आदर) करे तो उसमें धर्म की विराधना होती है। भले ही पर्यूषण के दिन हों, किन्तु जिसे भेदज्ञान नहीं है-आत्मा के स्वभाव और क्रोधादि की भिन्नता का भान नहीं है तथा विकार के कर्तृत्व में ही वर्त रहा है, उसे तो वे दिवस भी विराधना के ही हैं। किन्तु लोग अंतरंग की मूल वस्तु को भूलकर बाहरी रुढ़ियों में फँस गये हैं।

(८५) यहाँ आचार्यदेव भेदज्ञानधर्म की अपूर्व बात समझाते हैं। जिसने ऐसा भेदज्ञान प्रगट किया, वह जीव निरन्तर चैतन्यस्वभाव की आराधनारूप से ही परिणमित होता है, इसलिए उसे तो सदैव 'पर्यूषण' ही है,—उसके आत्मा में सदा धर्म की उपासना वर्तती ही रहती है।

(८६) सर्व प्रथम वस्तु की यथार्थ भूमिका समझना चाहिये। धर्म की भूमिका कौन सी है और अधर्म की कौन सी? आत्मा का क्रोधादि के साथ एकत्व प्रवृत्तिरूप जो अज्ञान है, वही अधर्म की भूमिका है—वही संसार का मूल है; तथा आत्मा और क्रोधादि का भेदज्ञान करना ही धर्म की भूमिका है; उस भेदज्ञानरूपी भूमि के बिना धर्मरूपी वृक्ष नहीं उग सकता।

(८७) अरे जीव! परभावों के प्रेम में पड़कर तूने अपने स्वभाव को भुला दिया... भाई! ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ है... अब तो अपने स्वभाव को लक्ष में ले। एकबार स्वभाव को लक्ष में लेते ही तुझे ऐसा लगेगा कि अहो! यही मुझे आदरणीय है। इस स्वभाव को समझे बिना मैंने अभी तक का काल व्यर्थ गँवा दिया है.... अब तो मेरा यही कर्तव्य है।

(८८) आत्मा ज्ञानस्वभावी है। ज्ञानस्वभाव की ओर के जितने परिणाम हैं, वे ज्ञान ही हैं; वे क्रोधादि से भिन्न हैं। तथा क्रोधादि के कर्तृत्ववाले जो परिणाम हैं, वे क्रोधादि ही हैं, वे ज्ञान से भिन्न हैं;—इस प्रकार दोनों की भिन्नता है। उनमें से जो ज्ञान में वर्तता है, वह ज्ञानी है तथा जो क्रोधादि में वर्तता है, वह अज्ञानी है। अज्ञान के कारण होनेवाली क्रोधादि की प्रवृत्ति अनादि से चली आ रही है; किन्तु भेदज्ञान द्वारा ज्ञानस्वभाव में प्रवृत्ति होते ही उसका नाश हो जाता है और उसके नष्ट होते ही बंधन छूट जाता है।

—इसप्रकार ज्ञानमात्र से ही बंधन का निरोध सिद्ध होता है ॥७१॥

(८९) देखो, भेदज्ञान के लिये तत्पर शिष्य को आचार्यदेव यह बात समझाते हैं। शिष्य धैर्य रखकर जिज्ञासापूर्वक यह बात समझता है। आचार्यदेव ने ऐसा समझाया कि आत्मा और आस्रवों के भेदज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध होता है। उसे सुनकर जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि-प्रभो! ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध किसप्रकार होता है? फिर ज्ञान के बहुमानपूर्वक पूछता है कि—अहो! यह कैसा ज्ञान.... कि जिससे बंध का निरोध हो जाता है? उसके उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं कि:—

अशुचिपणुं, विपरीतता अे आस्रवोनां जाणीने,
वली जाणीने दुःख कारणो, अेथी निवर्तन जीव करे॥७२॥

आस्रवों की अशुचिता और विपरीतता तथा वे दुःख के कारण हैं, ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

(९०) भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा का स्वभाव तो पवित्र है—निर्मल है, ज्ञानमय है, सुख से भरपूर है। और आस्रव कैसे हैं? वे अशुचिरूप हैं—मलिन हैं, ज्ञान से विपरीत हैं तथा दुःखमय हैं।—इसप्रकार दोनों के भिन्न-भिन्न स्वभाव को जो जानता है, वह ज्ञान, आस्रवों से विमुख होकर आत्म-स्वभावोन्मुख हो जाता है; दुःख के कारणरूप आस्रवों से विमुख होकर स्वभाव के सहज सुख में निमग्न हो जाता है; इसप्रकार वह ज्ञान स्वयं आस्रवों से निवर्तित होने के कारण ज्ञानमात्र से ही बंधन रुक जाता है। ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी विधि से बंधन नहीं रुकता। 'ज्ञानमात्र' कहने से ज्ञान के साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि का तो उसमें समावेश हो ही जाता है; 'ज्ञानमात्र' में ज्ञान से विरुद्ध भावों का निषेध है, किन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले अविरुद्ध भावों का (श्रद्धा-चारित्रादि का) निषेध नहीं है।

(९१) देखो भाई! श्रवण में, मनन में तथा मंथन में—चारों ओर से इसी बात का निर्णय करना चाहिये। जब तक समझ में न आये, तब तक यही प्रयत्न करते रहना चाहिये। 'जीवन में यही एक करने योग्य है'—इसप्रकार बहुमानपूर्वक निरन्तर उसी का प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य तो कोई हित का उपाय है नहीं। जिसे आत्मा को संसार के दुःखों से छुड़ाना हो, उसे यह बात समझना ही पड़ेगी। इसका बहुमान करनेवाला भी बड़ा भाग्यशाली है... जो इसे समझेगा, वह तो कृतकृत्य हो जायेगा; क्योंकि जो भेदज्ञान हुआ, वह निरन्तर वृद्धिंगत होकर उसे मोक्ष की प्राप्ति करायेगा। *(—क्रमशः)*

'सिद्ध समान सदा पद मेरो'

प्रत्येक आत्मा सिद्धपरमात्मा समान है; जैसे सिद्धभगवंत हैं, वैसे ही सर्व आत्मा स्वभाव से हैं।

सिद्धि प्राप्त करनेवाले अति आसन्न भव्यजीव भी पहले संसारदशा में थे और संसार क्लेश से उनका चित्त अशांत था... किन्तु फिर वे आसन्नभव्य जीव संसार क्लेश से थग गये.... अरे, यह राग-द्वेषादि क्लेश की अशांति!! इससे अब छुटकारा पाकर चैतन्य की शांति को किस प्रकार साधें? इसप्रकार उनके चित्त में संसार क्लेश की थकावट आ गई... और संसार से वैराग्य-परायण होकर वे निजस्वरूपोन्मुख हुए। इस संसारिक वृत्ति में हमारी शांति नहीं है, हमारी शांति तो अपने चैतन्यस्वरूप में ही हैं, इसलिये अब हम संसार से विमुख होकर चैतन्य की ओर उन्मुख हो रहे हैं।

इसप्रकार, संसार से थककर और सहज वैराग्य-परायण होकर उन आसन्न भव्य धर्मात्माओं ने द्रव्य-भावलिंग को धारण किया अर्थात् मुनिदशा प्रगट की; और फिर परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त किये हुए परमागम के अभ्यास से (अर्थात् भावश्रुत को चैतन्य में एकाग्र करने के अभ्यास से) केवलज्ञान प्रगट करके वे सिद्धि को प्राप्त हुए।

जैसे यह सिद्ध भगवन्त हैं, वैसा ही मेरा आत्मा है—ऐसा जो निर्णय करे, उसे स्वभावोन्मुखता से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हो जाता है। सिद्ध भगवान समान अपने आत्मस्वभाव का जो निर्णय करे, उसे आत्मोन्मुखता से अपने में सिद्धपद प्रगट हो जाता हैं। सिद्ध समानस्वभाव अर्थात् 'कारणसमयसार' (कारणपरमात्मा) का जो निर्णय करे, उसे उस कारण की सन्मुखता से कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता।

श्रीमद् राजचनद्र यह बात सादी भाषा में कहते हैं कि—

'सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय।'

आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! सिद्ध होने के लिये अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हो! तेरे सिद्धपद का उपाय बाह्य में नहीं है; सिद्ध समान जो तेरा आत्मस्वभाव, उसी में तेरा मोक्षमार्ग है।—किन्तु ऐसे स्वभाव की ओर कौन झुकता है?—कि जो संसार क्लेश से थक गया हो... जिसे पर भावों की अशांति से थकावट मालूम हुई हो.... वह जीव सहजवैराग्य के वेग से निजस्वरूप की ओर उन्मुख होकर सिद्धपद को साधता है। *[—नियमसार, गाथा ७४ के प्रवचन से]*

जिज्ञासुओं के लिये स्वर्णावसर

आसोज सुद १५ तक के लिये कुछ ग्रन्थों के मूल्य में कमी

१- भेदविज्ञान- (समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचन) २) का ग्रन्थ- १) में

२- लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका-जो तत्त्वज्ञान में प्रवेश पाने के लिये गाइड (मार्गदर्शिका) है, जैन तत्त्वज्ञान में सुगम शैली द्वारा प्रवेश पाने के लिये शास्त्राधार सहित रोचक, स्पष्ट और प्रयोजनभूत प्रश्नोत्तर है, जैन जैनेतर सभी में प्रचार होने योग्य है, मूल्य ०.१९ नये पैसे। एकसाथ २५ बुक में १२ ॥) टका कमीशन, और १०० बुक पर २५) टका कमीशन देंगे।

३- श्री जैन तीर्थक्षेत्र पूजा पाठ संग्रह (बड़ा)-

जो भक्तिपूजा और तीर्थयात्रा के समय जिनेन्द्रों की बड़ी-बड़ी पूजा के लिये तथा प्रत्येक जिनमन्दिर के लिये उपयोगी है। जिसमें प्राय: देशभर के सब जैनतीर्थक्षेत्र तथा अतिशय क्षेत्रों में जो प्राचीन पूजायें चल रही हैं, वे हैं। और यात्रियों के लिये तीर्थक्षेत्रों के विषय में प्रयोजनभूत जानकारी, कहाँ से कहाँ कैसे जाना इत्यादि वर्णन है। बहुत अच्छे कागज पर सुन्दर ढंग से बड़े टाइप में छपी है, बढ़िया कपड़े की जिल्द पत्र सं० ३०० मूल्य १-४५ पोस्टेजादि अलग। १० पुस्तक एक साथ लेने पर २५) प्रतिशत कमीशन, और एक ग्रन्थ में दस टका कमीशन।

४-शासन प्रभाव- जिसमें पू० सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी की जीवनी तथा धर्म प्रभाव और सर्वज्ञ वीतराग कथित सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन है। मूल्य-१३ नया पैसा किन्तु एकसाथ २५ बुक लेने पर-५० टका कमीशन।

नया प्रकाशन

मुक्ति का मार्ग (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें सभी जिज्ञासुओं को समझने में सुगम शैली है। हित के मार्ग में प्रवेश करनेवालों को प्रथम किस किस बात का ज्ञान जरूरी है वह बात मुख्यरूप से है—थोक लेकर प्रचार कीजिये पृ० संख्या १०२, मूल्य ५० नया पैसा।

★

गुजराती भाषा में 'द्रव्यसंग्रह' (नई आवृत्ति)

तत्त्वार्थसूत्र के समान द्रव्यसंग्रह भी प्राय: प्रत्येक जैन पाठशाला में पढ़ाया जाता है, आज तक अनेकों आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं किन्तु सर्व विद्यार्थी जिज्ञासुओं को अभ्यास करने में उपयोगी हो सके, जैनेतर बन्धु भी जैन धर्म की विशेषता समझ सकें, ऐसी शैली में इसका नया संस्करण तैयार हुआ है। साथ में लक्षण तथा भेद संग्रह तथा लघु द्रव्य संग्रह भी बढ़ा दिया है। बढ़िया कागज पृ० संख्या २२० मूल्य ८३ नये पैसे, पोस्टेज २० नये पैसे अलग।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नोट–गतांक नं० १८३ में 'द्रव्यसंग्रह' का मूल्य गलती से ८३ नये पैसे के बजाय ६० नये पैसे छप गया था, पाठकगुण सुधार लें।

★

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरण भा.२ (दूसरी आवृत्ति)

जिसमें मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७ के ऊपर पूज्य कानजी स्वामी के व्याख्यानों का संग्रह है; मोक्षमार्ग के विषय में, तत्त्वार्थ श्रद्धान के विषय में अनेक विवादों का सच्चा समाधान है।

जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि इसे एकाग्र चित्त से पढ़कर धर्म के नाम पर सूक्ष्म और स्थूल गलत फहमी किस रूप में है, बराबर समझें। आत्महितरूप सच्चा प्रयोजन के लिये यह ग्रंथ विशेषरूप से पढ़ने योग्य है। पृ० संख्या ४७० मूल्य २) पोस्टेजादि अलग।

नया प्रकाशन

मोक्षाशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी) दूसरी आवृत्ति

छपकर तैयार हो गया है। तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा उसकी बहुत समय से जोरों से मांग है, जिसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन आदि का निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकान्त पूर्वक नयार्थ भी दिये हैं और जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय प्रमाण द्वारा-सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं, अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में प्रयोजनभूत विवेचन बढ़ाया भी है, शास्त्र महत्वपूर्ण होने से तत्व प्रेमिओं को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ने योग्य है, पत्र सं० ९०० करीब मूल्य लागत मात्र ५), पोस्टेज आदि अलग। पचास ग्रन्थ मंगानेवालों को दस टका कमीशन; सौ पुस्तक में बीस टका कमीशन और १० पुस्तक से कम मंगाने पर कमीशन नहीं देंगे।

पता— श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।